Gyanvividha, Vol.-2; Issue-1 (January-March) 2025 : PP-231-237

ज्ञानविविधा

कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान की सहकर्मी-समीक्षित, मूल्यांकित, त्रैमासिक शोध पत्रिका

ISSN : 3048-4537(Online)
3049-2327(Print)
IIFS Impact Factor-2.25
Vol.-2; Issue-1 (Jan.March) 2025
Page No.- 231-237
©2025 Gyanvividha
www.journal.gyanvividha.com

Dr. Sumit kumar
sr. Assistant professor,
Department of philosophy,
S.M. College, Bhagalpur, TMBU.

Corresponding Author :

Dr. Sumit kumar
sr. Assistant professor,
Department of philosophy,
S.M. College, Bhagalpur, TMBU.

डिजिटल युग में सत्य का संकट : उत्तर-सत्य पर दार्शनिक विमर्श

सारांश : यह शोधपत्र डिजिटल युग में उभर रहे सत्य के संकट और तथाकथित 'उत्तर-सत्य' युग पर एक दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इसमें भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन में सत्य की पारंपरिक अवधारणाओं का विश्लेषण करते हुए वर्तमान **उत्तर-सत्य** परिवेश की विशेषताओं की जांच की गई है। विशेष रूप से सोशल मीडिया, फेक न्यूज़ और एल्गोरिदम द्वारा सूचना के प्रसार में आई क्रांतिकारी बदलाव से **सत्य** की अवधारणा को जो चुनौती मिली है, उसका विवेचन किया गया है। उदाहरणस्वरूप, डिजिटल मीडिया में भ्रामक सूचनाओं के तेज प्रसार, प्रतिध्वनि कक्ष और वैचारिक ध्रुवीकरण के घटनाक्रमों का परीक्षण किया गया है। शोधपत्र भारतीय दर्शन (जैसे उपनिषदों के सत्य-सिद्धांत, जैन अनेकांतवाद) तथा पाश्चात्य दर्शन (जैसे प्लेटो, नीट्शे, हैना अरेंड्ट आदि) दोनों के आलोक में **सत्य के संकट** की व्याख्या करता है। निष्कर्षतः, यह अध्ययन दर्शाता है कि भले ही डिजिटल युग में सत्य को अभूतपूर्व चुनौतियाँ मिल रही हैं, फिर भी मानव समाज में सत्य की खोज और संरक्षण दार्शनिक तथा नैतिक दृष्टि से अनिवार्य बने हुए हैं। अंत में, दर्शनशास्त्र के गहन विश्लेषण के आधार पर सुझाया गया है कि बहुसत्यवादी संवाद, मीडिया साक्षरता तथा नैतिक प्रतिबद्धता के माध्यम से उत्तर-सत्य युग के संकट का सामना किया जा सकता है।

मुख्य शब्द : डिजिटल युग, सत्य का संकट, उत्तर-सत्य, दार्शनिक विमर्श, सोशल मीडिया, फेक न्यूज़, भारतीय दर्शन, पाश्चात्य दर्शन।

1. परिचय : आज के डिजिटल युग में सत्य और असत्य के बीच की रेखा चिंताजनक रूप से धुंधली होती जा रही है। सूचना का प्रवाह इतना तीव्र एवं व्यापक है कि वास्तविक तथ्यों के साथ-साथ झूठी अथवा भ्रामक जानकारियाँ भी असाधारण तेज़ी से फैलती हैं। "उत्तर-सत्य" शब्द विशेष रूप से इसी नई परिस्थिति का वर्णन करता है जिसमें **वस्तुनिष्ठ तथ्य** जनमत निर्माण में अपनी पारंपरिक शक्ति खो रहे हैं और उनकी जगह भावनात्मक अपील एवं निजी विश्वासों ने ले ली है। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश ने 2016 में 'पोस्ट-ट्रुथ' को वर्ष का शब्द घोषित करते हुए इसे यही परिभाषा दी कि ऐसी परिस्थितियाँ जहाँ

वास्तविक तथ्यों की तुलना में जनभावनाएँ और **व्यक्तिगत विश्वास** अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं। इसका सीधा प्रभाव यह है कि राजनीति से लेकर समाज तक, कई क्षेत्र तथ्यों की बजाय भावनाओं द्वारा संचालित दिखाई देते हैं।

ध्यान देने योग्य है कि "पोस्ट-ट्रुथ" कोई एकदम नई अवधारणा नहीं है। 1990 के दशक में ही इस शब्द का इस्तेमाल प्रारंभ हो चुका था (फ़्लड, 2016) और लेखक रॉल्फ कीज़ ने 2004 में तर्क दिया था कि हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर गए हैं जिसे उन्होंने "उत्तर-सत्य युग" कहा, जहाँ **धोखे और भ्रम** आम सामाजिक वास्तविकता बन चुके हैं (केयस, 2004)। फिर भी, 2016 के बाद यह शब्द मुख्यधारा में आया जब ब्रेक्ज़िट जनमत और अमेरिकी चुनाव जैसी घटनाओं में तथ्यों की अपेक्षा भावनात्मक दावों और **"वैकल्पिक तथ्यों"** ने ज्यादा जोर पकड़ा। तथ्य यह है कि डिजिटल तकनीकों एवं सोशल मीडिया के अभूतपूर्व प्रसार ने उत्तर-सत्य प्रवृत्तियों को पनपने के लिए एक उपजाऊ मैदान प्रदान किया है।

इस शोधपत्र का उद्देश्य डिजिटल युग में सत्य के संकट का समग्र दार्शनिक विश्लेषण करना है। इसमें हम पहले सत्य की पारंपरिक दार्शनिक अवधारणा पर भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोणों से प्रकाश डालेंगे, ताकि समझ सकें कि सत्य को ऐतिहासिक तौर पर क्या महत्व और अर्थ दिया गया है। इसके बाद हम **उत्तर-सत्य युग** की विशेषताओं और कारणों की चर्चा करेंगे – खासकर सामाजिक मीडिया, फेक न्यूज़ और एल्गोरिदमिक फ़िल्टरों के सन्दर्भ में, जिन्होंने सत्य को नए सिरे से चुनौती दी है। वर्तमान उदाहरणों (राजनीतिक प्रोपगैंडा, सोशल मीडिया अफ़वाहें, आदि) के विश्लेषण द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास होगा कि यह **सत्य का संकट** किस प्रकार प्रकट हो रहा है। अंततः, दार्शनिक विमर्श के आधार पर हम यह विचार करेंगे कि सत्य के प्रति यह उदासीनता मानव समाज के लिए क्या अर्थ रखती है और इस संकट से उबरने के लिए किन मूल्यों एवं उपायों की आवश्यकता है।

2. सत्य की दार्शनिक अवधारणा: भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण : प्राचीन काल से आधुनिक समय तक, विश्व की विविध दार्शनिक परंपराओं ने सत्य की प्रकृति और महत्त्व पर गहन मनन किया है। भारतीय दर्शन में सत्य को परम मूल्य के रूप में स्थापित किया गया इसे दिव्यता, धर्म और मुक्ति से जोड़ा गया। ऋग्वेद में सत्य को **ऋत** (सृष्टि की आदिकारण व्यवस्था) के रूप में देखा गया, जबकि उपनिषदों में सत्य को ब्रह्म के पर्याय के रूप में महिमामंडित किया गया। मुण्डक उपनिषद् का प्रसिद्ध उद्घोष है: **"सत्यमेव जयते नानृतम्"**, अर्थात "सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं" यह संकेत करता है कि अंतिम विश्लेषण में सत्य ही विजयी होता है और सत्य का मार्ग देवपथ (दिव्य मार्ग) कहलाता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् की प्रार्थना **"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय"** सत्य को प्रकाश, ज्ञान और मोक्ष की दिशा बताती है। भगवद्गीता में सत्य को धर्म का अनिवार्य अंग मानते हुए दैवी गुणों में स्थान दिया गया **"अहिंसा सत्यं अक्रोधः..."** (गीता 16.2)। योग के यमों में भी सत्य आत्म-अनुशासन का मूल नियम है। इसी परंपरा से प्रेरित महात्मा गांधी ने सत्य को जीवन-साधना बनाया; उन्होंने पहले कहा "ईश्वर सत्य है" और बाद में संशोधित कर "सत्य ही ईश्वर है" (गांधी, 1927)।

भारतीय चिंतन में सत्य केवल आध्यात्मिक-नैतिक नहीं, ज्ञानमीमांसा का भी विषय रहा है प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि) द्वारा सत्य-परीक्षण की चर्चाएँ हुईं। जैन दर्शन का **अनेकांतवाद** सत्य को बहुआयामी मानकर स्यात्व के माध्यम से बताता है कि कथन "स्यात" के साथ सापेक्ष सत्य हो सकता है; हाथी और अंधों का दृष्टान्त दर्शाता है कि आंशिक सत्यों को समाहित करके ही पूर्ण सत्य के निकट पहुँचा जा सकता है।

पाश्चात्य दर्शन में भी सत्य केंद्रीय रहा। प्लेटो ने इसे शाश्वत रूपों से जोड़ा और "गुफा रूपक" में दिखाया कि सामान्य जन छायाओं को सत्य मानते हैं, जबकि वास्तविक सत्य प्रकाश में है (प्लेटो, 2007)। अरस्तू ने सत्य को "जो है उसे वही कहना" के अनुरुपता सिद्धांत से जोड़ा। आगे कांट ने

न्यूमनन/फिनॉमेनन के भेद से सत्य-प्राप्याता की सीमा रेखांकित की। नीट्शे ने पारंपरिक सत्य को चुनौती देते हुए इसे मानवीय रूपकों की "मोबाइल सेना" कहा (नीत्शे, 1873) और उत्तर-आधुनिक विमर्श (ल्योतार, फ़ूको) में सत्य शक्ति-संबंधों से जुड़ा राजनीतिक-सामाजिक प्रश्न बन गया: सत्य किसका है? यह पृष्ठभूमि आज के उत्तर-सत्य युग की पूर्वपीठिका रचती है।

3. उत्तर-सत्य युग में सत्य का संकट : उत्तर-सत्य युग, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, एक ऐसी स्थिति को दर्शाता है जहाँ पारंपरिक अर्थों में "सत्य" और "झूठ" का भेद घटते महत्व का हो गया है। जब समाज के बड़े हिस्से तथ्यों की परवाह किए बिना अपनी मान्यताओं पर अडिग रहें, या नेतृत्व और मीडिया द्वारा बार-बार दोहराए गए असत्य को लोग सच मानने लगें, तो समझना चाहिए कि हम एक गहन सत्य-संकट में हैं। प्रसिद्ध विचारक हैना अरेंड्ट ने चेतावनी दी थी: "तानाशाही शासन का आदर्श विषय (नागरिक) कोई प्रतिबद्ध नाज़ी या कम्युनिस्ट नहीं होता, बल्कि ऐसा व्यक्ति होता है जिसके लिए तथ्य और कल्पना... सत्य और असत्य के बीच का भेद समाप्त हो चुका हो"। यह कथन उस खतरे की ओर संकेत करता है जहाँ जनता का एक हिस्सा सत्य-असत्य के भेदभाव के प्रति उदासीन या अक्षम बन जाता है। जब राजनैतिक शक्तियाँ या प्रचारतंत्र जनता पर अपना मनचाहा "वास्तविकता" का संस्करण थोपने लगें और लोग आलोचनात्मक दृष्टि खो दें, तो लोकतंत्र के लिए यह गंभीर संकट है (अरेंड्ट, 1951)।

उत्तर-सत्य संस्कृति के उदय के कई कारण बताए गए हैं। दार्शनिक ली मैकइंटायर के अनुसार उत्तर-सत्य कोई मात्र दार्शनिक मतभेद नहीं, बल्कि जानबूझकर अपनाई गई रणनीति है (मैकइंटायर, 2018)। राजनीति "स्पिन डॉक्टरीन" से आगे बढ़कर सीधे झूठ को सच बनाने के खेल में आ गई है झूठ को इतनी दृढ़ता और बारंबारता से दोहराया जाता है कि वह "अंतिम सत्य" जैसा लगने लगे। 2020 के अमेरिका चुनाव के बाद चुनावी धांधली का मिथक इसी तरह फैला; अदालतों और पुनर्मतगणना में दावे निराधार सिद्ध हुए, फिर भी "चोरी हुए चुनाव" का विश्वास व्यापक हुआ और 6 जनवरी 2021 को कैपिटल हिल पर हिंसक हमले तक को प्रोत्साहन मिला। यह दिखाता है कि उत्तर-सत्य राजनीति में झूठ केवल नैतिक प्रश्न नहीं, सामाजिक-राजनीतिक व्यवहार को आकार देने वाला उपकरण बन जाता है।

आज झूठ की स्वीकार्यता और प्रसार-क्षमता भी बढ़ गई है। वैज्ञानिक प्रमाणों का खंडन जैसे 1950-60 के दशक में सिगरेट कंपनियों द्वारा कैंसर के साक्ष्यों के विरुद्ध भ्रम फैलाना (मैकइंटायर, 2018), या हाल में जलवायु परिवर्तन व टीकाकरण के ठोस तथ्यों का इनकार "विज्ञान-इनकार" को सामान्य बनाता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन बताते हैं कि पुष्टिकरण पूर्वाग्रह के कारण लोग वही सूचनाएँ चुनते हैं जो उनकी धारणा को बल दें (न्याहन और राइफ्लर, 2010, उद्धृत अनुसार मैकइंटायर); और ध्रुवीकृत संदर्भों में "प्रतिघात प्रभाव" भी दिखता है।

इस युग का एक प्रमुख लक्षण संस्थानों और विशेषज्ञों के प्रति विश्वास का क्षरण है। जब स्वतंत्र मीडिया, न्यायपालिका, विज्ञान-समुदाय आदि को लगातार बदनाम किया जाए, तो सच-झूठ की पड़ताल की सामाजिक क्षमता कमजोर पड़ती है। मीरा नन्दा के संकेत के अनुसार बड़े झूठ तभी फलते-फूलते हैं जब असंख्य छोटे झूठों/अफ़वाहों को नज़रअंदाज़ करने से समाज सुन्न हो जाए। भारत जैसे देशों में भी कुछ "बड़े झूठ" तर्क और आंकड़ों से खंडित होने के बावजूद भावनात्मक प्रचार से जीवित रहते हैं जैसे जनसंख्या-विस्फोट के मिथक द्वारा बहुसंख्यक के "खतरे" की धारणा। इससे स्पष्ट है कि उत्तर-सत्य युग में झूठ सामूहिक वास्तविकता गढ़ने वाली शक्ति बन चुका है।

4. डिजिटल मीडिया और सत्य का संकट : सूचना क्रांति और डिजिटल मीडिया के प्रसार ने उत्तर-सत्य प्रवृत्तियों को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इंटरनेट आधारित सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म आज समाचार और सूचनाओं के प्रमुख स्रोत बन गए हैं, जहाँ करोड़ों लोग प्रतिदिन तमाम जानकारियाँ साझा करते हैं। लेकिन इन मंचों की संरचना तथा कार्यप्रणाली

ऐसी है कि कई परिस्थितियों में सत्य के मुकाबले असत्य को बढ़त मिल जाती है।

सबसे पहली बात, सोशल मीडिया ने परंपरागत समाचार माध्यमों की संपादकीय निगरानी को काफी हद तक बाइपास कर दिया है। अब कोई भी व्यक्ति एक सनसनीखेज़ लेकिन निराधार सूचना डालकर रातोंरात हज़ारों-लाखों लोगों तक पहुँचा सकता है। शोध बताते हैं कि सोशल नेटवर्क पर फेक न्यूज़ अतुलनीय गति से फैलती हैं। एक व्यापक अध्ययन में पाया गया कि ट्विटर पर झूठी ख़बरें सत्य खबरों की तुलना में कहीं तेज़, गहरी और व्यापक फैलती हैं झूठी कहानियाँ 70% अधिक संभावना के साथ रीट्वीट होती हैं और सत्य की अपेक्षा लगभग छह गुना तेजी से 1500 लोगों तक पहुँचती हैं। आश्चर्यजनक रूप से, यह फर्क स्वचालित बोट खातों के हटाने के बाद भी बना रहता है; अर्थात मनुष्य स्वयं आकर्षक झूठी सूचनाएँ फैलाने में अग्रणी हैं। अध्ययन के अनुसार झूठी खबरों में नवीनता का तत्व होता है जो लोगों का ध्यान खींचता है, जबकि सत्य खबरें अक्सर "उबाऊ" लग सकती हैं (वोसौघी और सह-लेखक, 2018)। नतीजतन, सोशल मीडिया का पारिस्थितिकी तंत्र उन अफवाहों और मिथ्या सूचनाओं के लिए अधिक अनुकूल हो जाता है जो चौंकाती हैं या भावनाएँ उद्दीप्त करती हैं।

इसके साथ जुड़ा हुआ दूसरा कारक है एल्गोरिदम द्वारा तैयार की गई "फ़िल्टर बबल" या प्रतिध्वनि कक्ष। प्रमुख प्लेटफ़ॉर्म (जैसे फेसबुक, गूगल) हमारे ऑनलाइन व्यवहार के आधार पर हमें वही सामग्री अधिक दिखाते हैं जिसे देखकर या पढ़कर हमने पिछली बार दिलचस्पी दिखाई थी। इंटरनेट एक्टिविस्ट एली पैराइज़र ने इसे फ़िल्टर बबल कहा है। एक ऐसी बौद्धिक द्वीप-स्थिति जिसमें व्यक्ति अनजाने में केवल अपने पूर्वाग्रह की पुष्टि करने वाली जानकारी ही पाता है। एल्गोरिदम हमारे क्लिक, पसंद, खोज इतिहास आदि के आधार पर अनुमान लगाते हैं कि हम क्या देखना चाहेंगे, और उसी अनुरूप हमारा न्यूज़फ़ीड या सर्च परिणाम बनता है। इसका परिणाम यह होता है कि हमें वे सूचनाएँ कम ही दिखाई देती हैं जो हमारे विचारों से मेल नहीं खातीं; हम व्यक्तिगत सूचना-द्वीप पर कैद हो जाते हैं। पैराइज़र लिखते हैं, "निजीकरण फिल्टर हमें एक व्यक्तिगत सूचना पारिस्थितिकी में बंद कर देते हैं"। इससे एक गूंज कक्ष बनता है जहाँ हर जगह से हमें अपने मत की प्रतिध्वनि ही सुनाई देती है। धीरे-धीरे यह मान्यता बन जाती है कि जो हम देख-पढ़ रहे हैं वही संपूर्ण सत्य है, और हम भूल जाते हैं कि हमारी जानकारी पहले से छनकर आ रही है।

फ़िल्टर बबल का लोकतंत्र पर गहरा नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। लोकतंत्र की सफलता के लिए जरूरी है कि नागरिक एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझें और तथ्यों का एक साझा आधार हो जिस पर संवाद हो सके। इसके विपरीत, पैराइज़र चेतावनी देते हैं कि यदि हर व्यक्ति अपने-अपने वैचारिक बुलबुले में बंद हो जाए और सबके पास "समानांतर किन्तु पृथक ब्रह्मांड" में जानकारी हो, तो समाज के रूप में साझा सच्चाई का ताना-बाना टूटने लगता है। व्यक्तिगत फिल्टर एक अदृश्य आत्म-प्रचार की तरह काम करते हैं: वे हमें हमारी धारणाओं से लगातार पुष्ट करते रहते हैं और अज्ञात/विरोधी क्षेत्रों में मौजूद सत्य के पहलुओं को ओझल कर देते हैं। परिणामस्वरूप, वैकल्पिक विचार और "विपरीत तथ्य" हमारी आँखों से गायब हो जाते हैं। इस प्रवृत्ति का लाभ वे समूह उठाते हैं जो फ़ेक न्यूज़ और प्रोपगैंडा के सहारे मतदाताओं या जनता को प्रभावित करना चाहते हैं। उदाहरणस्वरूप, 2016 के अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव और अन्य हाल के चुनावों में सोशल मीडिया पर बनी वैचारिक दरारों ने उग्र लोकभावनाओं को हवा दी, जिसे कुछ विश्लेषकों ने लोकतंत्र के लिए ख़तरे की घंटी कहा (ग्रोशेक और कोक-मिशल्स्का, 2017)। ब्रेक्ज़िट और ट्रंप के चुनाव में भी फेसबुक जैसे मंचों पर फैली गलत सूचनाओं को प्रभावी माना गया है।

सोशल मीडिया के इस युग में फ़ेक न्यूज़ एक वैश्विक समस्या बन चुकी है। फेक न्यूज़ से आशय उन खबरों या सूचनाओं से है जो जानबूझकर भ्रामक या पूर्णतया झूठी हों और जिनका उद्देश्य लोगों को भ्रमित या प्रभावित करना हो। अक्सर ये सनसनीखेज़ रूप में

प्रस्तुत की जाती हैं ताकि अधिक से अधिक लोग इन्हें साझा करें। एक ओर आम उपयोगकर्ता बिना जांचे-परखे ही इन्हें साझा कर देते हैं; दूसरी ओर कुछ संगठित समूह बॉट्स आदि तकनीकों का उपयोग करते हैं। पारंपरिक मीडिया संस्थानों पर भी सोशल मीडिया की "गति" का दबाव बढ़ा है; कई बार तेज़ी की दौड़ में सत्यापन शिथिल पड़ जाता है। गांधी जी ने 1920 में यंग इंडिया में लिखा था: "आधुनिक पत्रकारिता में आए सतहीपन, एकतरफ़ापन, गलतियाँ और प्रायः बेईमानी निरंतर उन ईमानदार लोगों को भी गुमराह कर देती हैं जो केवल न्याय होते देखना चाहते हैं"। यह कथन आज के परिदृश्य पर अक्षरशः लागू होता प्रतीत होता है। फर्क इतना है कि अब भ्रम का प्रसार अखबार के पन्नों से बढ़कर करोड़ों लोगों के फोन तक सीधे और पहले से भी तेज़ गति से पहुँच रहा है।

डिजिटल मीडिया में सत्य-संकट के ठोस दुष्प्रभाव भी दिखते हैं। बच्चा-चोरी जैसी अफवाहों ने भारत में मॉब लिंचिंग की घटनाओं को जन्म दिया; अमेरिका में "पिज़्ज़ागेट" (2016) ऑनलाइन अफवाह से शुरू होकर वास्तविक हिंसा में बदलते-बदलते बचा। कोविड-19 महामारी में झूठे इलाज, वैक्सीन-विरोधी अफवाहें आदि इतनी फैलीं कि विश्व स्वास्थ्य संगठन ने "सूचनात्मक महामारी" की बात कही। इससे स्पष्ट है कि डिजिटल प्रवाह में सत्य का ह्रास केवल बौद्धिक समस्या नहीं; यह जन-स्वास्थ्य, कानून-व्यवस्था और लोकतांत्रिक संस्थाओं को भी प्रभावित करता है।

डीपफेक जैसी तकनीकें संकट को नई ऊँचाई पर ले जा रही हैं। एआई से बने नकली वीडियो में चेहरे और आवाज़ की हूबहू नकल करके किसी को ऐसी बातें कहते दिखाया जा सकता है जो उसने कभी कही ही नहीं। ऐसे डीपफेक आम आँखों के लिए वास्तविक से अलग करना लगभग असंभव होते हैं। चुनाव से ठीक पहले किसी नेता का आपत्तिजनक डीपफेक वायरल हो जाए तो सच सामने आने से पहले भारी जनमत-भटकाव संभव है। यानी "देखी पर विश्वास" वाली कहावत भी अविश्वसनीय बन जाती है।

फ्रेंच दार्शनिक ज्यां बौद्रियार का कथन है कि आधुनिक दुनिया में "सूचना की भरमार है, पर अर्थ घटता जा रहा है" (बॉड्रिलार्ड, 1994)। डिजिटल युग में समस्या जानकारी की कमी नहीं, बल्कि यह तय करना है कि क्या सच है, क्या आधा सच है और क्या सरासर झूठ। सूचनाओं के शोर में सार्थकता दब जाती है और नागरिक के मन में यह निराशा घर कर सकती है कि "सच कुछ भी हो सकता है"। यही उत्तर-सत्य संस्कृति की पराकाष्ठा है, जहाँ सत्य स्वयं निष्भ्रम अवधारणा बन जाए।

5. विमर्श: संकट से पार पाने की दार्शनिक चुनौतियाँ : जिस संकट का वर्णन अब तक हुआ, वह बहुस्तरीय है तकनीकी, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक सभी। इसलिए इससे निपटने के प्रयास भी कई स्तरों पर होने चाहिए। एक ओर तकनीकी समाधान जैसे फेक न्यूज़ की फ़ैक्ट-चेकिंग, सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म पर भ्रामक सामग्री पर अंकुश, एल्गोरिदमिक पारदर्शिता आदि आवश्यक हैं, तो दूसरी ओर समाज के स्तर पर डिजिटल साक्षरता और आलोचनात्मक सोच को बढ़ावा देना होगा। परन्तु इन सबसे बढ़कर मूलभूत रूप से ज़रूरी है। सत्य के प्रति सांस्कृतिक सम्मान बहाल करना। जब तक समाज के बड़े हिस्से को यह बोध नहीं होगा कि सत्य मूल्यवान है, तब तक कोई तकनीकी या नियामक सुधार पूर्णतः सफल नहीं हो सकता।

दार्शनिक दृष्टि से यह संकट हमें पुनः स्मरण कराता है कि ज्ञानमीमांसा और नैतिकता में सत्य केंद्रीय मूल्य क्यों माना गया। सत्य केवल एक सैद्धांतिक अवधारणा नहीं, यह विश्वास और विश्वसनीयता की बुनियाद है। यदि समाज में सच और झूठ के बीच भेदरेखा धुंधली हो जाए, तो आपसी भरोसे का आधार भी टूटने लगता है। भारतीय दर्शन यहाँ दो मूल्यवान पाठ देता है: पहला, सत्यनिष्ठा को नैतिक अनिवार्यता मानना चाहे महात्मा गांधी का उदाहरण लें या योगसूत्र के यम में सत्य की स्थापना, इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता की नींव सत्य पर रखी गई। दूसरा, बहुसत्यवाद को आत्मसात करना। अर्थात यह स्वीकार करना कि

विभिन्न दृष्टिकोणों में आंशिक सत्य हो सकता है और सहिष्णुता व संवाद द्वारा समग्र सत्य तक पहुँचना चाहिए (यही जैन अनेकांतवाद का सार है)। यदि हम प्रतिध्वनि-कक्ष संस्कृति को तोड़ना चाहते हैं, तो अनेकांतवाद जैसी सोच सहायक हो सकती है, क्योंकि यह हमें अपने मत के अलावा दूसरे के मत को सुनने-समझने की प्रेरणा देती है। सोशल मीडिया में लोग अक्सर वास्तविकता का एक पक्षीय, चुनिंदा अंश प्रस्तुत करते हैं; ऐसे में जैन दृष्टि याद दिलाती है कि हर चमकदार प्रक्षेपण के पीछे का अप्रदर्शित अंश भी समझना ज़रूरी है।

पाश्चात्य दर्शन से भी शिक्षा मिलती है। विशेषकर हैना अरेंड्ट जैसी विचारकों ने तथ्यहीनता के राजनीतिक खतरों से आगाह किया है। अरेंड्ट का जोर सत्य और राजनीति के जटिल संबंध पर रहा: प्रचार तंत्र कभी-कभी तथ्यों को इतना तोड़-मरोड़ देता है कि लोग सत्य की परवाह करना छोड़ दें, और यही अत्यंत खतरनाक स्थिति है। अतः लोकतंत्र-प्रेमियों के लिए जरूरी है कि वे सत्य के पक्ष में खड़े हों, भले ही वह सत्य उनके पक्ष के अनुरुप न हो। ली मैकइंटायर कहते हैं, "झूठ को हर हाल में चुनौती दी जानी चाहिए और सत्य को बार-बार दोहराया जाना चाहिए।" उनके अनुसार प्रयोगों से पता चलता है कि यदि गलत विचारों वाले लोगों को तथ्य लगातार समझाए जाएँ, तो धीरे-धीरे कुछ प्रभाव पड़ता है। इसलिए सत्य में विश्वास रखने वालों को मैदान छोड़कर यह नहीं कहना चाहिए कि "वे लोग मूर्ख हैं" ऐसा हुआ तो केवल झूठ की आवाज़ ही गूंजेगी।

अंततः सोशल मीडिया कंपनियों, सरकारों और सिविल सोसायटी सभी की संयुक्त जिम्मेदारी है कि स्वस्थ सूचना-पारिस्थितिकी बने। बड़े टेक प्लेटफ़ॉर्म को एल्गोरिदम में ऐसे परिवर्तन करने होंगे कि वे केवल क्लिक्स/व्यूज़ के आधार पर भड़काऊ सामग्री न बढ़ाएँ, बल्कि विश्वसनीय स्रोतों को प्रमुखता दें। सरकारों को भी, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन किए बिना, ऑनलाइन गलत सूचना से लड़ने के उपाय विकसित करने होंगे। और शैक्षणिक जगत व मीडियाकर्मियों को मिलकर मीडिया साक्षरता फैलानी चाहिए लोगों को सिखाना चाहिए कि खबरों की सत्यता कैसे परखें, स्रोतों की जांच कैसे करें, और फोटो/वीडियो के प्रसंग को कैसे समझें।

6. निष्कर्ष : डिजिटल युग में सत्य का संकट एक जटिल और बहुआयामी चुनौती बनकर उभरा है। उत्तर-सत्य युग ने हमें दिखाया है कि कैसे सूचना की प्रचुरता के बीच सत्य की कमी महसूस की जा सकती है। यह संकट सिर्फ तकनीकी नहीं, बल्कि गंभीर दार्शनिक विमर्श की मांग करता है: हमें यह पुनर्प्रश्न करना पड़ रहा है कि "सत्य" का अर्थ क्या है, क्या सत्य अभी भी मूल्यवान है, और एक समाज के रूप में क्या हम साझा सत्यों पर सहमत हो सकते हैं या नहीं। भारतीय और पाश्चात्य दर्शन से हमें सीख मिलती है कि सत्य कोई आसान राह नहीं, किंतु उसके बिना नैतिकता, न्याय और ज्ञान – सब संकट में पड़ जाते हैं। सत्य की अवधारणा पर संवाद करते हुए हमें याद आता है कि **"सत्य मेव जयते"** सिर्फ एक आदर्श वाक्य नहीं, बल्कि एक दिशा-सूचक सिद्धांत है: जितने भी विरोधी शक्तियाँ हों, अंततः सत्य की ही विजय होनी चाहिए।

आज जब सोशल मीडिया के कोलाहल में सत्य की आवाज़ दबती सी लगती है, तब इस सिद्धांत को साकार करने की ज़िम्मेदारी हम सब पर है। सत्य की खोज मानव बुद्धि का परम लक्ष्य रहा है – "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" कहकर उपनिषदों ने ब्रह्म को सत्य-स्वरुप कहा, और आधुनिक विज्ञान भी सत्य का अन्वेषी है। इसलिए, हमें विज्ञान, दर्शन, पत्रकारिता सभी के स्तर पर सत्य के प्रति एक नया आग्रह जगाने की आवश्यकता है।

उत्तर-सत्य युग कोई अनिवार्य स्थायी अवस्था नहीं है; यह मानवीय क्रिया-कलापों का ही परिणाम है, अतः इसे सुधारा भी मानव प्रयासों से ही जा सकता है। अगर नागरिक सचेत होकर अपने सूचना आहार में विविधता लाएँ, पूर्वाग्रहों को चुनौती दें; अगर शिक्षण संस्थान युवाओं में आलोचनात्मक सोच विकसित करें; और यदि नीति-निर्माता व तकनीकी विशेषज्ञ मिलकर सूचना जगत में पारदर्शिता व उत्तरदायित्व सुनिश्चित करें – तो हम धीरे-धीरे इस

संकट से उबर सकते हैं। सबसे बढ़कर, हमें **सत्य के प्रति आस्था** को पुनर्जीवित करना होगा – आस्था इस बात में कि तथ्य महत्वपूर्ण हैं, सत्य तक पहुँचना संभव और आवश्यक है, तथा सत्य के बिना व्यक्तिगत मुक्ति ही नहीं, समाज की स्वतंत्रता भी अधूरी है।

अंततः, जैसा गांधीजी ने कहा था, "सत्य ही ईश्वर है", हमें सत्य को उसी आदर के साथ संस्थापित करना होगा। हो सकता है डिजिटल युग ने असत्य को फैलने के नए माध्यम दे दिए हैं, परन्तु डिजिटल तकनीक का ही उपयोग सत्य के प्रसार हेतु भी किया जा सकता है। सद्भावनापूर्ण, प्रमाणसिद्ध और तार्किक आवाज़ों को बल देकर हम इस **सत्य के संकट** का सामना कर सकते हैं। इतिहास गवाह है कि लंबे समय में वे ही समाज प्रगति करते हैं जो सत्य एवं न्याय के मार्ग पर चलते हैं। इसलिए, उत्तर-सत्य के इस धुंधलके में भी, सत्य के प्रकाश को दर्शन एवं विवेक के दीपों द्वारा जीवित रखना ही मानवता का पथप्रदर्शन करेगा।

संदर्भ सूची :

1. **Plato.** The Republic. Translated by Desmond Lee, Penguin Classics, 2007.
2. **Nietzsche, Friedrich.** "On Truth and Lies in a Nonmoral Sense." 1873. In Philosophy and Truth: Selections from Nietzsche's Notebooks of the 1870s, edited by Daniel Breazeale, Humanity Books, 1979.
3. **Arendt, Hannah.** The Origins of Totalitarianism. Harcourt Brace, 1951.
4. **McIntyre, Lee.** Post-Truth. MIT Press, 2018.
5. **Nanda, Meera.** A Field Guide to Post-Truth India. Three Essays Collective, 2024.
6. **Flood, Alison.** "'Post-truth' named word of the year by Oxford Dictionaries." The Guardian, 15 Nov. 2016.
7. **Vosoughi, Soroush, Deb Roy, and Sinan Aral.** "The Spread of True and False News Online." Science, vol. 359, no. 6380, 2018, pp. 1146–1151.
8. **Ajmera, Roma.** "Anekāntavāda." Samyak: An Undergraduate Journal of Jain Studies, vol. 1, no. 1, 2025, pp. 37–38.
9. **Gandhi, M. K.** The Story of My Experiments with Truth. Navajivan Publishing House, 1927.
10. **Bhagavad Gita.** Translated by S. Radhakrishnan, HarperCollins India, 1948. (Chapter 16, Verse 2)
11. **Mundaka Upanishad.** In The Principal Upanishads, translated by S. Radhakrishnan, HarperCollins India, 1994. (Chapter 3, Section 1, Verse 6)
12. **Brihadaranyaka Upanishad.** In The Principal Upanishads, translated by S. Radhakrishnan, HarperCollins India, 1994. (Chapter 1, Section 3, Verse 28)
13. **Pariser, Eli.** The Filter Bubble: What the Internet Is Hiding from You. Penguin, 2011.
14. **Baudrillard, Jean.** Simulacra and Simulation. Translated by Sheila Faria Glaser, University of Michigan Press, 1994.
15. **Keyes, Ralph.** The Post-Truth Era: Dishonesty and Deception in Contemporary Life. St. Martin's Press, 2004.

.